व्याख्याकारों की दृष्टि में योगभ्रंशिकाओं का समीक्षात्मक अध्ययन (पातञ्जलयोगसूत्र के विशिष्ट सन्दर्भ में)

डॉ. सुधांशु कुमार षडङ्गी*

सारांश -

आजकल प्रत्येक प्राणी शारीरिक तथा मानसिक रूप से निरोग रहने हेतु प्रयास करता रहता है। परन्तु सामाजिक व्यवहार तथा आधुनिकता के कारण प्रतिक्षण दुःखों से सन्तप्त रहता है। क्योंकि उसकी सन्तप्तता में कारण उसके कार्यशैली तथा जीवन जीने की विधि है। अतः योग के बहुमुखी उपयोगिता के कारण समस्त प्राणी उसके शरण में जाने लगे। परन्तु योग का आश्रय भी सुकर नहीं है। क्योंकि प्रतिक्षण शारीरिक तथा मानसिक व्याधियाँ उसे सतत कष्ट पहुँचाता रहता है। इन्हें हम योग के विघ्न कह सकते हैं। इन विघ्नों के कारण ही योगसिद्धि में प्रतिबन्धक उपस्थित होता है। महर्षि पतञ्जलि ने अपने योगसूत्र में उत्तम अधिकारी हेतु ईश्वरप्रणिधान रूप वैकल्पिक साधन का उपदेश दिया है। वस्तुतः जो साधक अभ्यास तथा वैराग्य का अनुसरण नहीं करना चाहता है अपितु योगसिद्ध स्वल्प समय में करने की इच्छा रखता है, ऐसे तीव्रतम सिद्धि के अभिलाषी साधक हेतु ईश्वर के प्रणिधान रूप साधन का निर्देश हुआ है। इसका साधन भी सहज नहीं है। क्योंकि महर्षि ने स्वयं ही इसके साधन में प्रतिबन्धकों की प्रतिबन्धकता स्वीकार किया है। ये प्रतिबन्धक योगभ्रंशिका के रूप से स्वीकार किये गए हैं। इन्हें ही योग के अन्तराय कहा जाता है।

कुञ्जी शब्द - निरोग, कार्यशैली, जीवन, योग. शारीरिक मानसिक व्याधियाँ, कष्ट, विघ्न योगसिद्धि, प्रतिबन्धक, महर्षि पतञ्जलि, योगसूत्र, ईश्वरप्रणिधान, वैकल्पिक साधन, साधक अभ्यास, वैराग्य, योगभ्रंशिका, अन्तराय।

प्रस्तावना -

"अन्तर्मध्ये आयान्तीत्यन्तरायाः योगविघ्नाः" इस व्युत्पत्ति के आधार पर हम यह कह सकते हैं कि योगाभ्यास समय में जो बीच-बीच में प्रतिबन्ध उपस्थित होते हैं वे प्रतिबन्धस्वरूप विघ्न ही

योग के अन्तराय हैं। अतः चित्त को ध्येयाकारता में विच्छेदरूप जो विघ्न उपस्थित होते हैं वे ही योग के अन्तराय हैं। ये ही योगमार्ग से स्खलित कराने के कारण योगभ्रंशिका कहे जाते हैं। योग के इन अन्तरायों को योगमल तथा योगप्रतिपक्ष भी कहा जाता है। इनकी संख्या महर्षि पतञ्जलि ने 9 माना है।[1] जैसे - व्याधि, स्त्यान, संशय, प्रमाद, आलस्य, अविरति, भ्रान्तिदर्शन, अलब्धभूमिकता तथा अनवस्थितता। जैसे -

व्याधिस्त्यानसंशयप्रमादाऽलस्याविरतिभ्रान्तिदर्शनालब्धभूमिकत्वाऽनवस्थितानि चित्तविक्षेपाः ते अन्तरायाः।[2]

ये व्याध्यादि नौ योगविक्षेपों के उपस्थित होने पर योगसिद्धि प्रतिबन्ध हो जाता है, क्योंकि साधक को ये नौ अन्तराय चित्त को योग के मार्ग से विक्षिप्त करते हैं। अतः इन्हें विक्षेपक कहा गया है। ये नौ विक्षेपक ही चित्त के विक्षेप हैं। ये विक्षेप चित्तवृत्तियों के साथ ही रहते हैं। विघ्नों के उदित होते ही उनसे सम्बद्ध चित्तवृत्ति बन जाती है। विघ्नों के उदित होने और तत् सदृश चित्तवृत्ति के बनने में जो सूक्ष्मकालिक व्यवधान पडता है उससे वृत्तियों के साथ में कोई बाधा नहीं पडती है। अतः भाष्यकार ने कहा है –

नवान्तरायाश्चित्तस्य विक्षेपाः, सहैते चित्तवृत्तिभिर्भवन्ति।[3]

वस्तुतः व्याध्यादि के सूक्षकाल का प्रत्यक्ष सम्भव न होने से भाष्यकार व्यास सह पद के द्वारा व्याध्यादि अन्तरायों का वृत्तियों के साथ होना बतलाया है। चित्तवृत्तियों के होने पर उनके साथ अपरिहार्य रूप से होने वाले व्याध्यादि अन्तराय दिखलाई पडते हैं और व्याध्यादि की निवृत्ति होने पर योगप्रतिबन्धक वृत्तियाँ भी स्वतः निवृत्त हो जाती हैं। भाष्यकार इसी अन्वय-व्यतिरेक से ही चित्तवृत्ति तथा अन्तरायों के सम्बद्ध को स्पष्ट किया है। व्याध्यादि सहित चित्तवृत्तियाँ तथा केवल चित्तवृत्तियाँ ही योग को भङ्ग करती है। अतः श्रीविज्ञानभिक्षु ने कहा है कि –

---

[1]यो.सू., 1.30 तुलनीय -

क. अन्तरायाः - नव, एताश्चित्तवृत्तयो योगान्तराया योगविरोधिनः, चित्तस्य विक्षेपाः - चित्तं खल्वमी व्याध्यादयो योगाद्विक्षिपन्ति - अपनयन्तीति विक्षेपाः, योगप्रतिपक्षेत्वे हेतुमाह - सहैत इति।, त.वै., 1.30

ख. चित्तविक्षेपास्तेऽन्तरायाः, चित्तविक्षेपकतयैतानि ते पूर्वसूत्रोक्ता अन्तराया इत्यर्थः, व्यचष्टे नवेति।, यो.वा., 1.30

ग. अन्तराया विघ्ना विक्षेपाः प्रतिकूला इत्यर्थः, वृत्तिनिरोधः समाधिः, न वृत्तय इति।, पात.रहस्य, 1.30

घ. ये चित्तं योगाद्विक्षिपन्ति भ्रंशयन्ति ते नव विक्षेपा योगस्यान्तराया विघ्नाः।, यो.सुधाकर, 1.30

ङ. ये चित्तं योगाद्विक्षिपन्ति ते विक्षेपा योगस्यान्तराया विघ्ना नव।, योगसिद्धान्तचन्द्रिका (सूत्रार्थबोधिनी), 1.30

च. ये चित्तं योगाद्विक्षिपन्ति भ्रंशयन्ति ते चित्तविक्षेपाः योगस्यान्तरायाः विघ्नाः नव।, मणिप्रभा, 1.30

[2]. यो.सू., 1.30

[3]. व्या.भा., 1.30

सूक्ष्मकालानाकलनेन सहेत्युक्तम्। एतेषामव्यवधाननैव व्याध्यादिगोचरा वा तन्निवृत्त्युपायगोचरा वा चित्तस्य वृत्तयो भवन्ति योगभ्रंशिका इत्यर्थः।[4]

भोजवृत्तिकार भोज ने रजोगुण तथा तमोगुण के प्राबल्य के कारण चित्त के विक्षेप मानते हैं।[5] चित्त इन एकाग्रता विरोधिओं से विक्षिप्त हो जाता है। नागोजीभट्ट भी इसी मत का समर्थन करते हैं।[6] ये व्याध्यादि अन्तराय केवल स्वयं नहीं आते हैं, अपितु इनके साथ चलने वाले अन्यदोषों का भी ग्रहण करते हैं। इनको विक्षेप सहभुव के नाम से कहा जाता है। अर्थात् विक्षेपों के साथ-साथ इनकी भी प्राप्ति साधक को हो जाती है। अतः वाचस्पति ने कहा है कि चित्त को विक्षिप्त करने वाले केवल नौ अन्तराय नहीं है, अपितु दुःखादि भी व्याध्यादि अन्तरायों के सहभावी है। भोजवृत्तिकार ने इन सहभुवों को नौ प्रमुख अन्तरायों से ही प्रवृत्त होना माना है। ये प्रमुख नौ अन्तरायों के साथ उत्पन्न होने वाले पाँच योग के प्रतिबन्धक हैं, जैसे – दुःख, दौर्मनस्य, अङ्गमेजयत्व, श्वास तथा प्रश्वास। अतः सूत्रकार ने कहा है –

दुःखदौर्मनस्याङ्गमेजयत्वश्वासप्रश्वासाविक्षेपसहभुवः।[7]

ये व्याध्यि आदि नौ तथा दुःखादि पाँच योगप्रतिबन्धिका है। इनका समीक्षण ही प्रस्तुत शोधलेख का प्रतिपाद्य विषय है। इनका विवेचन नीचे किया जा रहा है।

1. **व्याधि –**

शरीर के पोषक तत्त्व होने से वात, पित्त तथा कफ संज्ञक धातुओं, आहार के परिणामभूत रसों एवं चक्षुरादि इन्द्रियाँ तथा मन आदि करणों का जो विसदृशभावरूपता है, उसे व्याधि कहते हैं।[8] धातु, रस और इन्द्रियों से शरीर की स्थिति है। वात, पित्त और कफ धातु है। भोजन, जल से

---

[4]. यो.वा., 1.30

[5]नवैते रजस्तमोबलात्प्रवर्तमानाश्चित्तस्य विक्षेपा भवन्ति। तैरेकाग्रताविरोधिभिश्चित्तं विक्षिप्यत इत्यर्थः। भोजवृत्ति -1.30।

[6]रजोस्तमोजन्या एते नव चित्तविक्षेपकत्वाद्योगान्तरायाः। नागोजीभट्टवृत्ति - 1.30।

[7]क. यो.सू., 1.31

ख. न केवलं नवान्तरायाः, दुःखादयोऽप्यस्य तत्सहभुवो भवन्ती।, त.वै., 1.31

ग. न केवलमेते व्याध्यादयो योगान्तराया अपितु दुःखादिरूपेष्वन्तरायान्तरेष्वपि हेतवो भवन्ती।, यो.वा., 1.31

घ. न केवलमेते विक्षेपा योगनाशकाः, अपि तु उपद्रवकरा इत्याह दुःखेति।, योगसुधाकर, 1.31

[8]क. धातवो वातपित्तश्लेष्माणः, शरीरधारणात्। अशितपीताहारपरिणामविशेषो रसः। करणानीन्द्रियाणि। तेषां वैषम्यं न्यूनाधिकभाव इति।, त.वै. - 1.30।

ख. शरीरधारकत्वात् धातूनां वातकफपित्तानां, रसानामाहारपिरणामानां, करणानां चक्षुरादिमनआदीनां च वैषम्यं विसदृशभावो व्याधिः।, यो.वा., 1.30।

ग. धातुः वातपित्तादि, रसः आहारपरिपाकजातरसः, करणानि चक्षुरादिनि, एषां वैषम्यं वैरूप्यं व्याधिः।, भास्वती, 1.30।

घ. तत्र व्याधिर्धातुवैषम्यनिमित्तो ज्वरादिः।, भोजवृत्ति, 1.30

रस रूप विशेष परिणाम बनता है और क्रियाशीलता जिनके द्वारा होती है वे इन्द्रयाँ हैं। जब धातु, रस और इन्द्रियों में किसी प्रकार की विषमता अथवा न्यूनाधिक्यता होती है तब शरीर व्याधिग्रस्त हो जाता है। उस समय जो वृत्तियाँ उत्पन्न होती है, वे चित्त को विक्षिप्त कर योग से हटाती है। अतः व्याधि से ग्रस्त व्यक्ति योग के अनुष्ठान करने में असमर्थ हो जाता है।

वस्तुतः विविधा आधयोऽस्मात् अथवा वि तथा आङ् उपसर्ग पूर्वक धा धातु से उपसर्गे धोः किः इस सूत्र से कि प्रत्यय करने पर व्याधि शब्द निष्पन्न होता है। यह रुग्णता का वाचक है। वैदिकसाहित्य में व्याधि को रूग्णता का वाचक तथा दोष माना गया है। जैसे छान्दोग्योपनिषद्, षड्विंशब्राह्मण, शाङ्ख्यायन श्रौतसूत्र में रोग रूप से स्वीकृत है।[9] यहाँ पर शारीरिक विकृति के रूप से माना गया है।[10] मैत्रायणी संहिता में व्याधि को दोष के रूप से भी माना गया है।[11] अस्तु, हम इसके मानसिक तथा शारीरिक भेद से दो भेद मान सकते हैं।[12] यह व्याधि चाहे किसी भी प्रकार के हो, चाहे वह मानसिक हो अथवा शारीरिक, उसके वर्त्तमान होने पर साधक को किसी भी क्रियानुष्ठान में प्रतिबन्ध उपस्थित हो जाता है। अतः व्याधि सबसे अधिक विक्षेप माना गया है। इसलिए महर्षि पतञ्जलि ने इसका विवेचन सबसे पहले किया है।

2. स्यान –

भाष्यकार व्यास ने स्त्यान को चित्त की अकर्मण्यता बताया है।[13] आचार्य वाचस्पति ने अकर्मण्यता को स्पष्ट करते हुए कहा है कि कर्म के प्रति अनुपयुक्तता ही अकर्मण्यता है।[14] परन्तु आचार्य विज्ञानभिक्षु ने योगानुष्ठान के असामर्थ्य को अकर्मण्यता माना है। क्योंकि अपक्व वातादि दोष से देह के अकर्मण्य होने पर भी चित्त योगानुष्ठान के लिए समर्थ रहता है। यह सूचित करने के

ङ. तत्र व्याधिः धातुरसकरणानां वैषम्यम्। धातवो वातपित्तकफाः, रसा आहारपरिणामाः, करणानि त्वक्चक्षुरादीनि एषां वैषम्यं स्वभावप्रच्यवः।, भावागणेशीय वृत्ति, 1.30

च. व्याधिर्वातपित्तश्लेष्मणां वैषम्यजन्यः।, नागोजीभट्टीय वृत्ति, 1.30

छ. तत्र व्याधिर्वातपित्तश्लेष्मणामन्नरसस्येन्द्रियाणां च वैषम्यम्।, मणिप्रभा, 1.30

ज. व्याधिर्ज्वरादिः, चन्द्रिका, 1.30

झ. तत्र दोषत्रयवैषम्यनिमित्तो ज्वरादिर्व्याधिः।, योगसुधाकर, 1.30

[9]छान्दोग्योपनिषद्, 4.10.3, षड्विंशब्राह्मण, 5.4, साङ्ख्यायन श्रौतसूत्र, 3.4.8, वाजसनेयी संहिता, 30.10.17.21. तैत्तिरीय आरण्यक, 3.4.6.1

[10]शतपथब्राह्मण, 13.3.6., बृहदारण्यकोपनिषद्, 5.1.9, कौषितकी उपनिषद्, 3.3,

[11]मैत्रायणी संहिता, 4.1.9

[12] द्विविधो जायते व्याधिः शारीरो मानसस्तथा।
परस्परं तयोर्ज्जन्म निर्द्वन्द्वं नोपलभ्यते।। महाभारत, 12.16.8

[13]स्त्यानम् - अकर्मण्यता चित्तस्य।, व्या.भा., 1.30

[14]अकर्मण्यता कर्मानर्हता।, त.वै., 1.30

लिए अकर्मण्यता को स्पष्ट करते हुए चित्तस्य पद का प्रयोग किया है।[15] अतः चैत्तिक अकर्मण्यता को स्त्यान कह सकते हैं। पातञ्जलरहस्यकार अकर्मण्यता को चित्त का अनुत्साह माना है।[16] भोजवृत्तिकार, मणिप्रभाकार तथा योगसुधाकरकार ने भाष्यकारसदृश चित्त के अकर्मण्यता को स्त्यान माना है।[17] परन्तु भावागणेश तथा नागेशभट्ट योगानुष्ठान में अक्षमता को स्त्यान माना है।[18] परन्तु भास्वतीकार ने अकर्मण्यता का कारण भ्रमण माना है।[19] इसीको स्पष्ट करते हुए कहा गया है – Akarmanyata is incapacity of the mind produced by restlessness *i.e.* the mind's shifting to and taking up objects which are not relevant.[20] अर्थात् उत्तम कर्त्तव्यज्ञान रहने पर भी अत्यन्त चञ्चलता के कारण चित्त को ध्यानादि साधन में प्रवृत्त न करने या प्रवृत्त न रखने की इच्छा होना ही स्त्यान कहा जा सकता है।

3. **संशय –**

एक धर्मी में उभयकोटि वैकल्पिक ज्ञानों का अवगाहन करने वाला ज्ञान को संशय कहा जाता है।[21] जैसे समाधि की साधना की जाए अथवा नहीं, इस प्रकार के संशय से चित्त एकाग्र नहीं हो पाता है। जिसके फलस्वरूप समाधि की साधना नहीं हो पाती है। आचार्य वाचस्पति[22] तथा श्रीविज्ञानभिक्षु ने भी यही माना है। यहाँ पर आचार्य विज्ञानभिक्षु ने भाष्योक्त स्यादिदमेवं नैवं स्यादिति में प्रयुक्त इदम् पद का गुरुशास्त्रोक्त ज्ञान एवं उसका साधन में ही तात्पर्य माना है।[23] अर्थात् गुरुशास्त्रोक्त ज्ञान तथा उसके साधन के विषय में यह ऐसा है अथवा नहीं है – इस प्रकार उभयकोटिक ज्ञान को संशय माना है। भोजवृत्तिकार, भावागणेश आदि व्याख्याकार इसीका समर्थन करते हैं।[24] वस्तुतः भोजवृत्तिकार का मत समीचीन प्रतीत होता है। क्योंकि योगानुष्ठान में

---

[15]आमवातादिना देहस्याकर्मण्यत्वेऽपि चित्तस्य योगाविरोधाच्चित्तस्येत्युक्तम्।, यो.वा., 1.30

[16]कर्मानर्हता – अमुत्साहः, चित्तस्येति शेषः।, पातञ्जलरहस्य, 1.30

[17]क.स्त्यानमकर्मण्यता चित्तस्य।, भोजवृत्ति, 1.30
ख.स्त्यानं चित्तस्य लुब्धत्वेऽपि कर्मानर्हता।, मणिप्रभा, 1.30
ग.चित्तस्याकर्मण्यत्वं स्त्यानम्।, योगसुधाकर, 1.30

[18]क. स्त्यानमकर्मण्यता, योगानुष्ठानाक्षमत्वमिति यावत्।, भावागणेशीयवृत्ति, 1.30
ख. स्त्यानं योगानुष्ठानाक्षमत्वम्।, नागोजीभट्टवृत्ति, 1.30

[19] अर्मण्यता भ्रमणात्।, भास्वती, 1.30

[20] भास्वती, अनु. P.N. Mukerji, University of Calcutta, 2012

[21]संशय उभयकोटिस्पृग्विज्ञानं – स्यादिदमेवं नैवं स्यादिति।, व्या.भा., 1.30

[22]संशय उभयकोटिस्पृग्विज्ञानम्।, त.वै., 1.30

[23]इदं गुरुशास्त्रोक्तं ज्ञानतत्साधनादि।, यो.वा., 1.30

[24]क. उभयकोट्यालम्बनं ज्ञानं संशयः – योगो साध्यो न वेति।, भोजवृत्ति, 1.30
ख. संशय गुरुशास्त्रोक्तसाधनेषूभयकोटिकं ज्ञानम्। भावागणेशवृत्ति, 1.30
ग. उभयकोट्यालम्बनं विज्ञानं संशयः।, चन्द्रिका, 1.30

यदि यह संशय हो जाए कि योग साध्य है अथवा असाध्य, तो साधक कभी भी योगानुष्ठान में प्रवृत्त नहीं हो सकेगा।

4. प्रमाद –

प्र उपसर्ग पूर्वक मद् धातु से भावार्थ में घञ् प्रत्यय से निष्पन्न प्रमाद पद है। यह अनवधानता को सूचित करता है।[25] भाष्यकार ने कहा है कि समाधि के साधनों की भावना न करना प्रमाद है।[26] आचार्य वाचस्पति भाष्योक्त अभावनम् का तात्पर्य प्रयत्नाभाव से ग्रहण किया है।[27] परन्तु विज्ञानभिक्षु ने अननुसन्धान अर्थ को स्वीकार किया है। वस्तुतः दोनों ही अर्थ उपयुक्त है। क्योंकि समाधि के साधनों का अनुसन्धान न करना तथा समाधि के साधनों के विषय में प्रयास न करना एक ही है। आचार्य भोज के अनुसार समाधि साधनों के प्रति औदसीन्य हो जाना अथवा समाधि के साधानों के अनुष्ठान के लिए प्रयत्न न करना ही प्रमाद है।[28] परन्तु नागोजीभट्ट शमादिभावनाओं के अभाव को प्रमाद माना है।[29] यदि समाधि की साधना में शमादिभावनाओं का आचरण योगी नहीं करता है, तो उसे योगानुष्ठान में अवश्यमेव विघ्न उपस्थित हो जाता है। अतः समाधि के साधनों के प्रति ध्यान न देने को प्रमाद कह सकते हैं। जैसे गुरु तथा शास्त्रों द्वारा बताये गये ज्ञान समाधि के लिए साधन हैं। उन साधनों की भावना यदि साधक न करें तो निश्चय योग भङ्ग हो जाता है। इसलिए प्रमाद रहित होते हुए योग का अनुष्ठान करना चाहिए।

5. आलस्य –

शरीर में धातुओं की वैषम्यता से आलस्य आता है। क्योंकि तमोवृत्ति की आधिक्य से चित्त भारी हो जाता है। शारीरिक तथा मानसिक गुरुता से समाधि के साधनों के अनुष्ठान में चित्त कभी भी प्रेरित नहीं हो पाता है।[30] अतः इस प्रकार योग में अप्रवृत्ति ही योग के लिए बाधक होता है। आचार्य वाचस्पति तथा श्रीविज्ञानभिक्षु ने शारीरिक गुरुता में कफादि को अर्थात् धातुवैषम्य को, जिसमें कफ अधिक तथा वात एवं पित्त न्यून हो और मानसिक गुरुता में तमोगुण की आधिक्य को माना है।[31] भास्वतीकार ने भी काय तथा चित्त की निद्रा, तन्द्रा आदि तामसावस्था के कारण योग

घ. विरुद्धकोटिद्वयावगाहि ज्ञानं संशयः।, योगसुधाकर, 1.30

[25]. भावागणेशवृत्ति तथा चन्द्रिका, 1.30

[26]. प्रमादः समाधिसाधनानामभावनम्।, व्या.भा., 1.30

[27]. अभावनम् अकरणम्, तत्राप्रयत्न इति यावत्।, त.वै., 1.30

[28]. प्रमादोऽननुष्ठानशीलता समाधिसाधनेष्वौदासीन्यम्।, भोजवृत्ति, 1.30

[29]. प्रमादः शमादिभावनाभावः।, नागोजीभट्टवृत्ति, 1.30

[30]. कायस्य चित्तस्य च गुरुत्वादप्रवृत्तिः।, व्या.भा., 1.30

[31]क. कायस्य गुरुत्वं कफादिना, चित्तस्य गुरुत्वं तमसा।, त.वै., 1.30

ख. कायगुरुत्वं कफादिना, चित्तगुरुत्वं तमसा। ताभ्यां हेतुभ्यामप्रवृत्तिः समाधिसाधनानामनुष्ठानम्।, यो.वा., 1.30

साधन में प्रवृत्त न होने को आलस्य माना है।[32] आचार्य भोज, भावागणेश, नागोजिभट्ट तथा चन्द्रिकाकार ने यही अभिमत रखा है। परन्तु मणिप्रभाकार ने केवल चित्त के गुरुत्व को माना है तथा योगसुधाकरकार ने काय तथा चित्त के गुरुता के साथ -साथ वाक्गुरुता को ग्रहण किया है। वस्तुतः शारीरिक तथा मानसिक गुरुता से ही काय, चित्त तथा वाक्गुरुता सम्भव है। इनके कारण ही समाधि के साधनों के अनुष्ठान के प्रति साधक प्रयत्न नहीं कर पाता है। यद्यपि योगानुष्ठान में चित्त की महत्ता है तथापि शारीरिक गुरुता में चित्त का योगानुष्ठान के प्रति प्रेरित होना अनुचित लगता है। यद्यपि कथञ्चित् सम्भव भी हो, तो वह कादाचित्क होगा।

6. अविरति –

विषयों के प्रति अभिलाषा अविरति है। चित्त की विषयसन्निकर्षजन्य जो अभिलाषा है वह अविरति कहा जाता है।[33] समस्त टीकाकारों ने यही अभिमत रखा है। अतः विषयों के सामीप्य से उनकी प्राप्तिविषयक जो तृष्णा है, उसे अविरति कह सकते हैं। यह गर्ध, अभिलाष, तृष्णा तथा अविरति पर्याय है। इच्छाएं अनन्त हैं। इसलिए विषयों के सन्निकर्ष से अनन्त इच्छाएँ उत्पन्न होती हैं, जिनसे समाधि बाधित हो जाती है अर्थात् चित्त योग के अनुष्ठान में प्रवृत्त नहीं हो पाता है। यह केवल अभिलाषाओं की पूर्त्ति में ही रह जाता है। वस्तुतः सभी विषयों से पराङ्मुख चित्तयुक्त साधक ही योगसाधन में प्रवृत्त हो सकता है। इसके विपरीत विषयों की लोलुपता के कारण विषयासक्त होते हुए योगसाधन हेतु प्रयत्नशील नहीं रह सकता है। अतः साधक को विषयों के प्रति तृष्णा को त्याग करना चाहिए।

7. भ्रान्तिदर्शन –

तत्त्वों के विपर्ययज्ञान को भ्रान्तिदर्शन कहा जाता है।[34] विज्ञानभिक्षु आदि आचार्य गुरु द्वारा प्रमाणित पदार्थ के विषय में विपरीत ज्ञान को ग्रहण करना भ्रान्तिदर्शन है।[35] यहाँ पर आचार्य नागोजीभट्ट शास्त्रोक्त प्रतिपादित अर्थ से विपरीत अर्थ का निश्चय करने को भ्रान्तिदर्शन माना है। अतः गुरु तथा शास्त्रों के द्वारा प्रमाणित उपदेशों के विपरीत का निश्चय हो जाना ही भ्रान्तिदर्शन है। शास्त्र भी गुरु पदवाच्य है। अतः इनके द्वारा प्रदर्शित मार्ग का चयन करना युक्तियुक्त है। यदि इनके विपरीत निश्चय साधक कर लेता है तो वह स्वकीय लक्ष्य तक पहुँच नहीं पाता है।

---

[32]निद्रातन्द्राऽदितामसावस्थाया या कायचित्तयोः साधनेऽप्रवृत्तिः।, भा., 1.30

[33]क. चित्तस्य विषयसम्प्रयोगात्मा गर्धः। व्या.भा., 1.30

ख. सम्प्रयोगात्मा सन्निकर्षजन्यो गर्धोऽभिलाषः।, यो.वा., 1.30

[34]भ्रान्तिदर्शनं विपर्ययज्ञानम्।, व्या.भा., 1.30

[35]क. विपरीतं ज्ञानं गुर्वादिप्रमितार्थविपरीतनिश्चयः।, यो.वा., 1.30

ख. भ्रान्तिदर्शनं गुर्वादिप्रमितार्थविपरीतनिश्चयः।, भावागणेशवृत्ति, 1.30

ग. भ्रान्तिदर्शनं विपर्ययज्ञानम्।, चन्द्रिका, 1.30

घ. अतस्मिंस्तद्बुद्धिर्भ्रान्तिदर्शनम्। योगसुधकर, 1.30

8. अलब्धभूमिकत्व –

न लब्धभूमिकत्व अलब्धभूमिकत्व है अर्थात् योग के जो मधुमति आदि भूमियाँ हैं, उनमें से योगसाधनों के अनुष्ठान करने पर भी किसी एक भी भूमि की प्राप्ति न होना अलब्धभूमिकत्व है।[36] इसके कारण चित्त में विक्षेप होता है। अतः यह विक्षेपक है। सभी टीकाकरों ने यही अभिमत रखा है। योगसिद्धि हेतु साधनों का अनुष्ठान सतत करने पर भी मधुमति आदि भूमियों में से किसी एक भूमि की भी प्राप्ति नहीं होती है। क्योंकि योगानुष्ठान से इन भूमियों की सिद्धि अवश्यम्भावी है। अलब्धभूमिकत्व के कारण इन भूमियों में से किसी एक की भी सिद्धि नहीं हो पाती है। इसलिए अलब्धभूमिकत्व को योगान्तराय माना गया है।

9. **अनवस्थितत्व –**

मधुमती आदि समाधि की भूमियों की प्राप्ति होने पर भी यदि चित्त इसमें अवस्थिति को प्राप्त न कर सके तो समाधि की भूमियाँ अप्राप्य हो जाती है।[37] इस तरह के विघ्नों को अनवस्थितत्व के नाम से कहा जाता है। यदि मधुमति समाधि की भूमियाँ कथञ्चित् प्राप्त हो भी जाएँ तो उतनी ही सिद्धियों से अपने आपको कृतकृत्य मानने वाले साधक की समाधि से स्खलन हो जाता है। इससे साधक के द्वारा लब्ध भूमि में चित्त की अप्रतिष्ठा हो जाती है। क्योंकि समाधि की प्राप्ति होने पर भी चित्त की स्थिरता सम्भव है।[38] मधुमती आदि चार भूमियाँ हैं, जैसे मधुमती, मधुप्रतीका, प्रज्ञाज्योति और अतिक्रान्तभावनीय। इन भूमियों में से किसी एक अथवा एकाधिक भूमि की सिद्धि होने पर भी चित्त स्थिर न होने के कारण एकाग्रता में जो स्खलन होता है वह अनवस्थित कहलाता है। अब एक प्रश्न उपस्थित होता है कि यदि इन चारों भूमियों में से किसी एक अथवा एकाधिक भूमि की प्राप्ति साधक को हो जाती है। तदनन्तर यदि साधक का चित्त अस्थिर हो जाए तो उससे क्या हानि होगी ? इसके समाधान में कहा जाता है कि समाधि का तात्पर्य ध्येय तत्त्व का साक्षात्कार है। अतः जब तक चित्त का पुरुषसाक्षात्कार नहीं कर लेता है तब तक उन भूमियों में स्थिर रहना आवश्यक है। अतः जिसने पुरुषात्मतत्त्व का साक्षात्कार नहीं किया है, ऐसे योगारूढ संज्ञक योगी की भी मधुमत्यादिविषयिणी भूमिभ्रंशता होती है। इसे ही अनवस्थितत्व कहा जाता है। इसमें स्मृति का

[36]क. वक्ष्यमाणानां मधुमत्यादिभूमीनामेकतमस्य अपि साधनानुष्ठानेऽप्यलाभः इत्यर्थः ।, यो.वा., 1.30
ख. अलब्धभूमिकत्वं कुतश्चिन्निमित्तात्समाधिभूमेरलभोऽसम्प्राप्तिः ।, भोजवृत्ति, 1.30
ग. अलब्धभूमिकत्वं वक्ष्यमाणानां योगभूमीनां साधानानुष्ठानेऽप्यलाभः ।, भावागणेशवृत्ति, 1.30

[37]. अनवस्थितत्वं लब्धायां भूमौ चित्तस्याप्रतिष्ठा ।, व्या.भा., 1.30

[38]. लब्धभूमेर्यदि तावतैव सुस्थितमन्यस्य समाधिभ्रेषः स्यात्ततस्तस्या अपि भूमेरपायः स्यात् ।, त.वै., 1.30

प्रमाण को दिखाते हुए आचार्य विज्ञानभिक्षु कहते हैं कि जब योगारूढ संज्ञक साधक का सङ्ग दोष के कारण समाधि में स्खलन हो जाता है तो स्वल्पसिद्धि प्राप्त साधक की स्थिति कहाँ है।[39]

इन व्याध्यादि नौ योगान्तरायों के साथ पाँच अन्य अन्तराय भी उत्पन्न होते हैं। जैसे – दुःख, दौर्मनस्य, अङ्गमेजयत्व, श्वास तथा प्रश्वास। वस्तुतः ये व्याधि आदि अन्तराय से विक्षिप्त चित्त में ही दुःख आदि पाँच सम्भव होते हैं। ये समाहित चित्त में नहीं होते हैं।[40] अतः ये व्याधि आदि के सहकारी अन्तराय कहे गए हैं। आचार्य विज्ञानभिक्षु ने भी इन्हें व्याध्यादिविक्षेपोद्भवाः कहा है।[41] इनमें से सबसे पहले –

दुःख –

प्राणीमात्र जिससे सन्तप्त होकर उसके विनाश हेतु प्रयासरत रहता है उसे दुःख कहा जाता है। दुष्टं खनतीति अथवा दुःखयतीति दुःख है। अर्थात् जो प्राणीमात्र को कष्ट पहुँचाता है। न्यायादि दर्शनों में इसे केवल आत्मधर्म माना है। परन्तु सांख्य-योग दर्शन में यह केवल चित्तधर्म के रूप से स्वीकृत है। सांख्य-योग शास्त्र में दुःख तीन प्रकार से स्वीकृत है, जैसे – आध्यात्मिक[42], आधिभौतिक तथा आधिदैविक। इनमें से आध्यात्मिक दुःख शारीर तथा मानस भेद से दो प्रकार का है। शारीरिक दुःख धातुवैषम्यरूप व्याधिजन्य होता है तथा कामादि के कारण मानस दुःख उपस्थित होता है, जैसे – अप्रिय समागम तथा प्रिय का परिहार रूप है। आचार्य शङ्कर ने इष्टविघातहेतुक मानस दुःख को माना है।[43] भूतादि से प्राप्त जैसे व्याघ्रादि पशुजनित आधिभौतिक दुःख है[44] एवं ग्रहादि पीडाजन्य आधिदैविक दुःख है। ये तीनों ही दुःख प्राणिमात्र के प्रति प्रतिकूलतया अनुभूत होने से त्याज्य है। यह दुःख रजोगुण परिणामजन्य है। चन्द्रिकाकार ने दुःख को रागज परिणाम बाधनलक्षणरूप माना है।[45]

यद्यपि व्याध्यादि विक्षेप के कारण उत्पन्न समस्त दुःख मानस है तथापि प्रधानरूप से मनोविकारजन्यत्व और मनोविकाराजन्यत्व होने के कारण दुःखों का प्रथमतः द्विविध विभाजन मानस और अमानस रूप से किया गया है। वस्तुतः विषयसम्बन्धी दुःखों में चित्त को विक्षिप्त करने

---

[39]ननु लाभोत्तरं भ्रंशे का क्षतिरित्याशङ्कायामाल – समाधिप्रतिलम्भे हीति। प्रतिलम्भो निष्पत्तिर्ध्येयसाक्षात्कार इति यावत्। अयं भावः – साक्षात्कारपर्यन्तमेव चित्तस्य तत्तद्भूम्यवस्थानमपेक्षितमतोऽकृतसाक्षात्कारस्य योगारूढस्यापि भ्रंशोऽनवस्थितत्वमेव भवतीति।, यो.वा., 1.30

[40]विक्षिप्तचित्तस्यैते भवन्ति, समाहितचित्तस्यैते न भवन्ति।, व्या.भा., 1.31

[41]विक्षेपसहभुवो व्याध्यादिविक्षेपोद्भवाः।, यो.वा., 1.31

[42]आत्मानं स्वसंघातमधिकृत्य वर्त्तत इत्याध्यात्मिकम्।, यो.वा., 1.30

[43]शारीरं धातुवैषम्यादिनिमित्तम्। मानसमिष्टविघातादिहेतुकम्।, योगसूत्रभाष्यविवरण, 1.31

[44]भूतानि प्राणिनो व्याघ्रादीन् लक्षीकृत्य जायत इत्याधिभौतिकं व्याघ्राद्युत्थम्। देवानधिकृत्य जायत इत्याधिदैविकं शीतोष्णाद्युत्थमित्यर्थः।, यो.वा., 1.31

[45]तत्र दुःखं चित्तस्य रागजः परिणामो बाधनलक्षणः।, चन्द्रिका, 1.31

का कारणत्व घटित न होने से दुःखसामान्य का त्रिविध वर्गीकरण सम्भव नहीं हो सकता है। क्योंकि इससे घटपटादिविषयक दुःख मानस न होने से गृहीत नहीं होंगे। अन्यविषयक दुःखस्थलों पर भी यही समस्या उपस्थित हो जाएगा। अतः मनोविकार जन्यत्व तथा मनोविकार अजन्यत्व रूप से द्विविध कोटी के दुःख के त्रिविध दुःखवर्गीकरण उचित ही है। अतः विज्ञानभिक्षु ने कहा है –

यद्यपि सर्वमेव विक्षेपोद्भवं दुःखं मानसं तथाऽपि प्राधान्येन मनोविकारजन्यत्वाजन्यत्वाभ्यां मानसत्वामानसत्वविभागः। विषयगतदुःखेषु चित्तविक्षेपाणामहेतुत्वात् दुःखसामान्यस्य त्रिधा विभागो न घटते, घटपटादिदुःखानामसंग्रहात्। एवमन्यत्रापि।[46]

- **दौर्मनस्य –**

स्वकीय इच्छा की सम्पूर्त्ति न होने के कारण चित्त में होने वाला क्षोभ को दौर्मनस्य कहा जाता है। भोजदेव के अनुसार बाह्य अथवा आभ्यन्तर कारणों से मनस की जो द्विधा स्थिति है वह दौर्मनस्य है।[47] परन्तु भावागणेश तथा नागोजीभट्ट चित्तचाञ्चल्य को दौर्मनस्य माना है।[48] प्रकारान्तर से प्रायशः सभी टीकाकारों ने विषयों के अभिलाषा की सम्पूर्त्ति न होने से चित्त में उत्पन्न होने वाला क्षोभ को दौर्मनस्य माना है।

- **अङ्गमेजयत्व –**

अङ्गानि एजति इति। एजृ कम्पने धातु से निष्पन्न एजति है। अर्थात् शरीर के अङ्गों का प्रकम्पित होना अङ्गमेजयत्व है। अतः जो अङ्गों को कम्पन करावे वो अङ्गमेजयत्व है।[49] यह समाधिसिद्धि के बाधकतत्त्व है। क्योंकि अङ्गों में कम्पन अथवा चलचञ्चलता होने से आसन तथा मन का स्थैर्य सम्भव नहीं होता है।[50] जिससे साधना में विघ्न उपस्थित हो जाते हैं। अङ्गों के कम्पन में कई कारण हो सकते हैं। जैसे – ज्वरादि व्याधि से ग्रसित होने से अथवा शारीरिक दौर्बल्य से भी अङ्गों में कम्पन होता है। यह निश्चय ही व्याधिजन्य होना चाहिए। अङ्गों में कम्पन होने पर साधक आसन पर स्थरतया अभ्यास नहीं कर सकता है और अभ्यासाभाव के कारण योगसाधना की गति अवरुद्ध हो जाती है। अतः अङ्गों का कम्पना योगसाधन हेतु प्रतिबन्धक ही है।

- **श्वास-प्रश्वास –**

प्रयत्न किये विना ही स्वयं प्राण जिस वायु को शरीर के भीतर प्रविष्ट कराता है, उसे श्वास कहते हैं। तथा उसी प्रकार उदरस्थ वायु को विना प्रयत्न के शरीर से बाहर निकालता है, उसे प्रश्वास कहते हैं। यहाँ पर वाचस्पति जहाँ अनिच्छा पद का व्यवहार किया है वहीं पर आचार्य विज्ञानभिक्षु

---

[46]. यो.वा., 1.31

[47]. दौर्मनस्यं बाह्याभ्यन्तरैः कारणैर्मनसो दौस्थ्यम्।, भोजवृत्ति, 1.31

[48]. दौर्मनस्यं चित्तचाञ्चल्यम्। भावागणेशवृत्ति तथा नागोजीभट्टवृत्ति, 1.31

[49]यदङ्गान्येजयति कम्पयति तदङ्गमेजयत्वम्।, व्या.भा., 1.31

[50]अङ्गमेजयत्वं सर्वाङ्गीणो वेपथुरासनमनःस्थैर्यस्य बाधकः।, भोजवृत्ति, 1.31

पुरुषप्रयत्न के विना ग्रहण किया है।[51] चाहे अप्रयत्न हो अथवा अनिच्छा हो श्वास तथा प्रश्वास की यह गति समाधि की विरोधी है। क्योंकि समाधि हेतु प्राणायाम की आवश्यकता है। और प्राणायाम में प्राणों की गति निर्धारित है। यह रेचक, पूरक, कुम्भक तथा केवल कुम्भक आदि प्राणायाम में प्रयत्नपूर्वक किया गया अभ्यास ही स्वीकृत है। क्योंकि यह बाह्याभ्यन्तरस्तम्भवृत्ति प्राणायाम देश, काल तथा संख्या से परीक्षित होता हुआ दीर्घ तथा सूक्ष्म होता है। अतः अप्रयत्न प्राण का श्वास तथा प्रश्वास विकार ही है और समाधि के अङ्गभूत रेचक तथा पूरक प्राणायाम का विरोधी होने से ये दोनों ही योगसाधन में विक्षेप है।

यहाँ पर भावागणेश रेचक में अधिकवायु का प्रवेश तथा पूरक में अधिकवायु का निर्गम को माना है।[52] जिससे प्राणवायु की यह गति समाधि प्रतिपक्ष हो जाती है। योगसुधाकरकार ने श्वास को अपानवायु तथा रेचक विरोधी माना है। और प्राणवायु को प्रश्वास तथा पूरकविरोधी माना है। प्रकारान्तर से उन्होंने कहा है कि श्वास बाह्यकुम्भकविरोधी है तथा प्रश्वास आभ्यन्तरकुम्भकविरोधी है। और अङ्गमेजयत्व दोनों ही कुम्भक के विरोधी है। कहा भी है –

अपानः श्वासः। स च रेचकविरोधी। प्राणः प्रश्वासः। स तु पूरकविरोधी। अथ वा श्वासो बाह्यकुम्भकविरोधी, प्रश्वासः आन्तरकुम्भकविरोधी, अङ्गमेजयत्वं कुम्भकद्वयविरोधीत्यर्थः, नोच्छ्वसेन्नैव निश्वस्यान्नैव गात्राणि चालयेत् इति कुम्भके तन्निषेधश्रवणात्।[53]

उपर्युक्त सभी योग के अन्तरायों को हम व्याधि में ग्रहण कर सकते हैं। क्योंकि व्याधि को शारीरिक तथा मानसिक भेद दो माना गया है। स्त्यान, संशय, प्रमाद, आलस्य, अविरति, भ्रान्तिदर्शन, अलब्धभूमिकत्व तथा अनवस्थितत्व एवं इन विक्षेपों के सहकारीभूत दुःख, दौर्मनस्य, अङ्गमेजयत्व तथा श्वास-प्रश्वास आदि को मानसिक व्याधि के रूप से स्वीकार कर सकते हैं। अथवा हम ऐसे कह सकते हैं कि योग के अन्तरायों की द्विविध कोटि है, जैसे – बाह्य तथा आन्तरिक। बाह्य कोटि में व्याधि का तथा आन्तरिक कोटि में स्त्यानादि का ग्रहण उचित होगा। अथवा जिस प्रकार अविद्या अस्मितादियों के प्रसवभूमि के रूप से स्वीकृत है, वैसे ही व्याधि भी अन्य समस्त योगान्तरायों की प्रसवभूमि रूप से मान सकते है। क्योंकि व्याधि के कारण ही स्त्यान, संशय, प्रमादादि सम्भव होते हैं। वस्तुतः प्रत्येक अन्तराय का बाह्यपक्ष तथा आभ्यन्तरपक्ष उभयपक्ष समुपस्थित होता है। अतः पातञ्जलोक्त मत ही समीचीन है। हम केवल कल्पना कर सकते हैं।

---

[51]क. अनिच्छतः प्राणो यद्बाह्यं वायुमाचमति पिबति, प्रवेशयतीति यावत्, स श्वासः समाध्यङ्गरेचकविरोधी। अनिच्छतोऽपि प्राणो यत्कौष्ठ्यं वायुम्, निःसारयति निश्चारयति, स प्रश्वासः समाध्यङ्गपूरकविरोधी। त.वै., 1.31
ख. पुरुषप्रयत्नं विना स्वयमेव प्राणो यद्बाह्यं वायुमतिशयेनाचामति पिबति शरीरान्तःप्रवेशयति स श्वासनामा विकार इत्यर्थः। कौष्ठ्यमुदरस्थं वायुं निःसारयति बहिःकरोति। यो.वा., 1.31

[52]श्वासो देहान्तर्वायोरधिकप्रवेशः। प्रश्वासो देहाद्बायोरधिकनिर्गमः। भावागणेशवृत्ति, 1.31

[53]योगसुधाकर, 1.31

अस्तु, व्याधि आदि योग के अन्तराय रजोगुण तथा तमोगुण के कारण प्रवृत्त होकर चित्त को विक्षिप्त कराते हैं। अतः व्याधि आदि प्रमुख नौ अन्तराय तथा दुःखादि पाँच सहकारी अन्तराय योगभ्रंशिकाएँ हैं। क्योंकि इनके उपस्थित होने पर योगसिद्धि सम्भव नहीं हो सकता है। ये समस्त योगमार्ग से साधक को स्खलित करा देते हैं। साधक को इनका विशेष ध्यान रखते हुए साधनों का अनुष्ठान करना चाहिए। योगसूत्र में इनके नाश हेतु ईश्वरप्रणिधान की व्यवस्था की गयी है।

-0-

*Professor of Sanskrit, Deptt. Of VVBIS & IS, Panjab University Sadhu Ashrma, Hoshiarpur.